वो लोकतंत्र जिसका वादा था…जो संविधान में लिक्खा था…वो क्या हुआ?

भारत से लेकर चिली तक लाखों लोग सड़कों पर प्रदर्शन कर रहे हैं। लोकतंत्र उन्हें किया गया वादा था लेकिन लोकतंत्र ने ही उन्हें धोखा दिया है। वे लोकतांत्रिक व्यवस्था में आस्था रखते हैं पर बख़ूबी समझते हैं कि धन और सत्ता से संतृप्त लोकतांत्रिक संस्थाएँ अपर्याप्त हैं। वे इससे अतिरिक्त, ज़्यादा गहरे और एक नए तरह के लोकतंत्र की महत्वाकांक्षा रखते हैं।

ख़ास-तौर पर भारत के हर-एक क्षेत्र में मुसलमानों को गैर-नागरिकों में तब्दील कर देने वाले फ़ासीवादी कानून को वापस लेने की मांग करने के लिए वामपंथी पार्टियों के साथ-साथ बड़ी संख्या में आम लोग राजनीतिक दलों की सम्बद्धता के बिना ही सड़कों पर उतर आए हैं। ये विशाल लहर सरकार के प्रदर्शनों को अवैध घोषित करने और इंटरनेट बंद कर देने के बावजूद बढ़ रही है। पुलिस बलों द्वारा विभिन्न इलाक़ों में अब तक बीस लोग मारे जा चुके हैं। लेकिन जनता के हौसले बुलंद हैं। लोगों ने घोषणा कर दी है कि वे दम-घोंटू दक्षिण पंथ को स्वीकार नहीं करेंगे। यह अप्रत्याशित जन-सैलाब अपरिहार्य विद्रोह बनता जा रहा है।

<विडियो : पीपुल्स डिस्पैच, भारत का स्वाधीनता संग्राम 2.0, इस बार फ़ासिवादियों के ख़िलाफ़, 21 दिसम्बर 2019:

पूँजीवादी सत्ता ने लोकतंत्र को जकड़ रखा है। यदि राज्य की संप्रभुता संख्याओं से ही तय होती रहेगी तो श्रमिकों,

किसानों, शहरी गरीबों और युवाओं का प्रतिनिधित्व वे लोग करते रहेंगे जो अपने हित्तोचित उनके श्रम को नियंत्रित करते हैं। लोकतंत्र में लोग अपने भाग्य को ख़ुद नियंत्रित करने में सक्षम होते हैं। लेकिन, पूंजीवाद ऐसी व्यवस्था संरचित करता है जिसमें संपत्ति के मालिक पूँजीपतियों का अर्थव्यवस्था और समाज पर अधिकार बना रहे। पूंजीवाद के दृष्टिकोण से, लोकतंत्र के सभी पहलुओं को लागू नहीं किया जाना चाहिए। क्यूँकि यदि लोकतंत्र को अपने पूर्ण निहितार्थ स्थापित करने की छूट मिल जाए, तो धन-उत्पादन के साधन भी लोकतांत्रिक कर दिए जाएंगे और यह संपत्ति के स्वायत्तीकरण पर हमला होगा। यही कारण है कि लोकतंत्र को सीमित रखा जाता है।

हालाँकि सरकारों द्वारा उदार-लोकतंत्र की प्रणाली विकसित की जाती है, लेकिन इन प्रणालियों को बहुत ज़्यादा लोकतांत्रिक बनने की अनुमति नहीं होती। उन्हें 'कानून और व्यवस्था' या सुरक्षा के नाम पर लोकतंत्र को बाधित करने वाले राज्य के दमनकारी तंत्र द्वारा क़ाबू में रखा जाता है। सुरक्षा, कानून और व्यवस्था इस तरह पूर्ण लोकतंत्र की स्थापना में अवरोध उत्त्पण करते हैं। यह कहने के बजाय कि संपत्ति की रक्षा करना राज्य का लक्ष्य है, कहा जाता है कि राज्य का लक्ष्य व्यवस्था बनाए रखना है, और इसके लिए व्यापकतम लोकतांत्रिक कार्यप्रणालियों का गुंडागर्दी और आपराधिकता के साथ साहचर्य बनाकर रखा जाता है। सामाजिक धन के निजी विनियोग— जो वास्तव में चोरी है— की समाप्ति की माँग करना चोरी कहलाता है; और पूंजीवादियों की बजाय समाजवादियों को संपत्ति के खिलाफ नहीं बल्कि लोकतंत्र के खिलाफ अपराधियों के रूप में परिभाषित किया जाता है।

<विडियो : शोनाली बोस, नई दिल्ली, 19 दिसम्बर, 2019.

निजी मीडिया व अन्य संस्थानों के निधिकरण के माध्यम से बुर्जुआ करिश्माई तरीक़े से यह दिखाने में सक्षम बना रहता है कि वो ही लोकतंत्र का असली रक्षक है।इसलिए वो लोकतंत्र को समाज और अर्थव्यवस्था के लोकतंत्रीकरण के बजाय केवल चुनावों और स्वतंत्र प्रेस— जिन्हें अन्य वस्तुओं की तरह ख़रीदा जा सकता है— के रूप में ही परिभाषित करता है। सामाजिक व आर्थिक दोनों तरह के संबंध इस प्रकार लोकतंत्र के दायरे के बाहर कर दिए जाते हैं। एक तरफ़ आर्थिक संबंधों के लोकतंत्रीकरण के लिए कार्यरत ट्रेड यूनीयनों को खुले तौर पर प्रताड़ित किया जाता है और उनके अधिकारों को छीन लिया जाता है; सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों को बदनाम किया जाता है, वहीं दूसरी ओर गैर-सरकारी संगठन उभर कर सामने आते हैं जो कि मूलभूत परिवर्तन के लिए संपत्ति संबंधों को चुनौती देने के बजाय अक्सर छोटे सुधारात्मक एजेंडे तक सीमित रहते हैं।

<टीबीटी : अर्नस्ट बलोच, 1885-1977>

चुनावों और अर्थव्यवस्था के बीच की दीवार के परिणामस्वरूप, चुनावों को राजनीति तक सीमित करने और अर्थव्यवस्था के लोकतंत्रीकरण को रोकने के बीच व्यर्थता की भावना पसरी रहती है। यह उदार-लोकतंत्र का प्रतिनिधित्व कर रहे ढांचे के संकट से स्पष्ट हो जाता है, जिसका काम होते मतदाता केवल एक लक्षण हैं। अन्य लक्षणों में ख़ास-कर धन और मीडिया का कुटिल उपयोग शामिल हैं, जिनके द्वारा वास्तविक समस्याओं पर किसी तरह की महत्वपूर्ण चर्चा से ध्यान हटाकर काल्पनिक समस्याओं को गढ़ा जाता है और सामाजिक दुविधाओं की आम समस्याओं की पड़ताल करने की बजाय मनगढ़ंत समस्याएँ ईजाद की जाती हैं। इसके साथ ही विभाजनकारी सामाजिक मुद्दों का उपयोग कर भूख और निरंकुशता जैसे असल मुद्दे दरकिनार कर दिए जाते हैं। मार्क्सवादी दार्शनिक अर्नस्ट बलोच ने इसे 'तृप्ति की ठगी' कहा है। बलोच के अनुसार, सामाजिक उत्पादन का फल, सर्वहारा वास्तविकताओं के खिलाफ बर्बर सपने पालने वाले, ऊपरी स्तर के बड़े पूंजीवादी ही भोगते हैं। मनोरंजन उद्योग सर्वहारा संस्कृति को अपने फैलाए आकांक्षाओं के एसिड से नष्ट कर रहा है; ऐसी आकांक्षाएँ जिन्हें पूंजीवादी व्यवस्था के तहत पूरा नहीं किया जा सकता है। लेकिन जो किसी भी तरह के श्रमिक-वर्ग के एजेंडे को परे धकेलने के लिए पर्याप्त हैं।

श्रमिक वर्ग या किसानों की किसी भी तरह की परियोजनाओं को कुचलना पूंजीपतियों के हित में होता है। हिंसा, कानून, या तृप्ति की ठगी—यानी पूंजीवाद के भीतर ऐसी आकांक्षाओं को निर्मित करना जो पूंजीवाद के बाद के समाज के लिए राजनीतिक मंच को नष्ट कर दें— उनके हथियार हैं। पूंजीवाद के दायरे में एक वैकल्पिक स्वप्नलोक का निर्माण करने में

श्रमिक और किसान वर्ग की विफलता के लिए उनका मजाक उड़ाया जाता है ; उनकी परियोजनाओं को अवास्तविक कहा जाता है। तृप्ति की ठगी और सर्वहारा के ख़िलाफ़ बर्बर सपनों को यथार्थवादी माना जाता है, जबकि समाजवाद को अवास्तविक ज़रूरत के रूप में पेश किया जाता है।

हालाँकि, बुर्जुआ व्यवस्था की एक समस्या है। लोकतंत्र को बड़े पैमाने पर जनसमर्थन की आवश्यकता होती है। और जनता उन राजनीतिक दलों का समर्थन क्यों करेगी जिनके पास ऐसा एजेंडा है जो श्रमिक-वर्ग और किसान-वर्ग की तात्कालिक जरूरतों को पूरा करने में अक्षम है ? यहीं संस्कृति और विचारधारा की महत्वपूर्ण भूमिका सामने आती है। 'तृप्ति की ठगी' से आधिपत्य क़ायम किया जाता है। यानी मजदूर वर्ग और किसान वर्ग की सामाजिक चेतना न केवल अपने स्वयं के अनुभवों से आकार लेती है, जो उन्हें इस ठगी को पहचानने में सहायक हो सकते हैं, बल्कि शासक वर्ग की विचारधारा भी मीडिया, शैक्षणिक संस्थानों और धार्मिक संरचनाओं के माध्यम से उनकी सामाजिक चेतना को गढ़ती है।

जब जनता के संघर्षों के द्वारा सरकारी एजेंडे में शामिल की गयीं सामाजिक कल्याण की बुनियादी संरचनाएं छिन्न-भिन्न की जाने लगती हैं तब 'तृप्ति की ठगी' बड़े रूप से सामने आने लगती है। पूंजीवादियों द्वारा सामाजिक धन के निजी विनियोजन के परिणामस्वरूप होने वाली सामाजिक असमानता की कठोरता से समाज को बचाए रखने के लिए जनता सरकारों को मजबूर करती है कि वो सामाजिक कल्याण कार्यक्रम— सार्वजनिक स्वास्थ्य व शैक्षिक सेवाएँ, जरूरतमंदों के लिए लक्षित योजनाएं— चलाए। इन कार्यक्रमों का अभाव बड़ी संख्या में लोगों को प्रभावित करता है, और 'तृप्ति की ठगी' पर संदेह पैदा करता है। लाभप्रदता पर आधारित व्यवस्था में आए दीर्घकालिक संकट के परिणामस्वरूप, इन कल्याण योजनाओं में पिछले कई दशकों से कटौती की जा रही है। उदार-लोकतंत्र में नवउदारवादी नीतियों के तहत आए इस संकट के कारण आर्थिक असुरक्षा बढ़ी है और जनता का इस व्यवस्था पर गुस्सा फूटने है। लाभप्रदता की व्यवस्था में जन्मा संकट अब राजनीतिक वैधता के लिए चुनौती बनता जा रहा है।

लोकतंत्र संख्याओं का खेल है। लोकतांत्रिक प्रणालियों की स्थापना के द्वारा निरंकुश राज्य-शासन को मजबूर किया जाता है कि वो जनता को राजनीतिक जीवन में भाग लेने दे। पूंजीपतियों के अनुसार जनता को राजनीतिक होना चाहिए, लेकिन उसे राजनीति को नियंत्रित करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए ; यानी जनता एक साथ राजनीतिक और वि-राजनीतिक होनी चाहिए। उन्हें पर्याप्त रूप से उत्तेजित होना चाहिए, लेकिन इतना उत्तेजित नहीं कि वे उस तंत्र को चुनौती दें जो अर्थव्यवस्था और समाज को लोकतंत्र से बचाती है। इस तंत्र के टूट जाने पर पूंजीवाद की वैधता समाप्त हो जाती है। इसी कारण से अर्थव्यवस्था और सामाजिक क्षेत्रों में लोकतंत्र की अनुमति नहीं दी जा सकती और इसे केवल राजनीति— चुनावी प्रक्रियाओं— तक सीमित रखा जाता है।

दमनकारी शासन व्यवस्थायों ने लोगों के जीवन को मुश्किल बनाया है। अब उन्हें इस झूठ से बहलाया नहीं जा सकता है कि वे सामाजिक योजनाओं में आई कटौती से या बेरोजगारी से पीड़ित नहीं हैं। 'तृप्ति की ठगी' बुनियादी आवश्यकताओं में की गयीं कटौतियों के बाद अब उतनी सम्मोहक नहीं रह गई है और इसका धोखा अब उजागर होने लगा है। पूंजीपति चाहते हैं कि लोग अपने हित्तोचित्त 'वर्गों' में समेकित होने की बजाए विभिन्न प्रकार के परस्पर विरोधी हित रखने वाली 'भीड़' बनकर रहें जिन्हें पूंजीपति अपने हिसाब से इस्तेमाल कर सकें। दूसरी ओर नवदारवाद के लिए 'एंटरेप्रेनेरशिप' पर आधारित राजनीतिक परियोजना के कारण बड़े स्तर पर आई बेरोजगारी और दिवालियापन एक दु:स्वप्न बन गए हैं। इन सब हालातों ने अति-दक्षिणपंथ को चैंपियन के रूप में उभारा है।

दक्षिणपंथ लेकिन इस समय की जटिलताओं से बे-गरज है। वो प्रमुख सामाजिक समस्याओं— बेरोजगारी और असुरक्षा— को संबोधित ज़रूर करता है, लेकिन वह इन समस्याओं को उनके संदर्भ में नहीं देखता और न ही उन वास्तविक विरोधाभासों को करीब से समझता है जिन पर काम करके ही इन समस्ययों से पूर्ण रूप से निजात पाया जा सकता है। असल में विरोधाभास सामाजिक श्रम और पूँजी के निजी संचय के बीच है। इस विरोधाभास को सामाजिक श्रम के नज़रिए से हल किए बिना बेरोजगारी के संकट को नहीं मिटाया जा सकता है। चूँकि यह पूंजीपति वर्ग के लिए असम्भव है, इसलिए इस विरोधाभास पर काम करने की बजाए पूँजीपति वर्ग तरह-तरह के इल्ज़ामों की रणनीति बनता है। यानी बेरोजगारी पर बात की जाती है लेकिन इसके लिए निजी पूंजी की व्यवस्था को नहीं बल्कि प्रवासियों या किसी अन्य वर्ग या किसी लोकतांत्रिक प्रणाली को दोषी ठहराया जाता है।

इस इल्ज़ाम की रणनीति को समाज में पूरी तरह से स्थापित करने के लिए अति-दक्षिणपंथी दलों को अल्पसंख्यकों के संरक्षण जैसे उदारवादी विचार से पीछे हटने में भी कोई गुरेज़ नहीं है। विभिन्न लोकतंत्रिक संविधानों में बहुमत के अत्याचारों के मद्दे-नज़र अल्पसंख्यकों के अधिकारों और संस्कृतियों की सुरक्षा के प्रावधान किए गए हैं। ये कानून और नियम समाज में लोकतंत्र का विस्तार करते हैं। लेकिन दक्षिणपंथी लोकतंत्र का लक्ष्य इन सुरक्षाओं को बढ़ावा देना नहीं बल्कि उन्हें तबाह करना है। इसीलिए दक्षिणपंथ बहुसंख्यकों को अपने पक्ष में लाने के लिए अल्पसंख्यकों के खिलाफ जनता को भड़काने का प्रयास करता है और पुरज़ोर कोशिश करता है की लोगों में वर्ग-चेतना विकसित न हो। दक्षिण-पंथ को उदार-लोकतंत्र की परंपराओं व उसके नियमों से कोई सरोकार नहीं है। हालाँकि लोकतांत्रिक संस्थानों की अपनी सीमाएँ रहीं हैं पर फिर भी ये संस्थाएँ समाज में राजनीतिक चुनावों की एक वाजिब जगह बनती रहीं हैं। दक्षिण-पंथ इन संस्थायों का इस्तेमाल उदारवाद की संस्कृति को विषाक्त करने के लिए कर रहा रहा है और एक ऐसी राजनीति गढ़ रहा है जिसमें किसी भी प्रकार के प्रतिवाद के लिए हिंसा की वैधता हो।

लोकतंत्र के नाम पर अल्पसंख्यकों को नागरिकता से वंचित किया जा रहा है। बहुमत की भावनाओं के नाम पर हिंसा को सामान्य बनाया जा रहा है। नागरिकता को बहुमत के आधार पर परिभाषित कर लोगों को बहुमत की संस्कृति अपनाने के लिए मजबूर किया जा रहा है। भारत में भाजपा सरकार ने नागरिकता (संशोधन) अधिनियम, 2019 के ज़रिए ठीक यही करना चाहा। और यही है जिसे लोगों ने अस्वीकार किया है।

बहुमत के नज़रिए से देखने पर चुनावी राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था के बीच की दीवारों को बनाए रखने वाला अति-दक्षिणपंथ भी लोकतांत्रिक प्रतीत होता है। समाज और अर्थव्यवस्था में लोकतंत्र के किसी भी संभावित विस्तार को निषिद्ध करने के लिए, इस दीवार का संरक्षण आवश्यक है। इसके लिए ज़रूरी है कि लोकतंत्र की कल्पना जीवित रहे और लोकतंत्र का वादा बारम्बर तोड़ा जाए।

यही वादा-खिलाफ़ी है जो भारत, चिली, इक्वाडोर, हैती और अन्य जगहों पर लोगों को सड़कों पर प्रदर्शन करने के लिए प्रेरित करती है।

([illegible]:- [illegible]: [illegible] [illegible] [illegible])